

ब्रिटिश कालीन भू राजस्व व्यवस्था सत्र 1757 से 1957 का विश्लेषणात्मक अध्ययन

Rajesh Warkade*

*Assistant Professor, Government Chandravijay PG College, Dindori, MP

E-Mail: rajeshwarkade15@gmail.com

DOI: <https://doi.org/10.5281/zenodo.20834227>

1. प्रस्तावना (Introduction)

भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है, जहाँ प्राचीन काल से ही भूमि राज्य की आय का प्रमुख स्रोत रही है। भारतीय अर्थव्यवस्था, सामाजिक संरचना तथा राजनीतिक व्यवस्था का आधार कृषि और भूमि संबंधी व्यवस्थाएँ रही हैं। भूमि पर नियंत्रण और उससे प्राप्त होने वाले राजस्व ने सदैव शासन की वित्तीय शक्ति को निर्धारित किया है। 18वीं शताब्दी के मध्य में 1757 के प्लासी युद्ध के पश्चात भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ और इसके साथ ही भारतीय भू-राजस्व व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन प्रारम्भ हुए। ब्रिटिश शासन ने भारतीय कृषि संरचना को केवल राजस्व प्राप्ति के साधन के रूप में देखा, जिसके परिणामस्वरूप भूमि संबंधों, कृषक जीवन, ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक संरचना में गहरे परिवर्तन उत्पन्न हुए।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रमुख उद्देश्य भारत से अधिकतम आर्थिक लाभ प्राप्त करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कंपनी ने विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न भू-राजस्व व्यवस्थाओं को लागू किया। इनमें स्थायी बंदोबस्त (Permanent Settlement), रैयतवाड़ी व्यवस्था (Ryotwari System) तथा महालवाड़ी व्यवस्था (Mahalwari System) प्रमुख थीं। इन व्यवस्थाओं का मूल उद्देश्य कृषि उत्पादन से अधिकाधिक राजस्व संग्रह करना था, किंतु इनके सामाजिक और आर्थिक परिणाम अत्यंत व्यापक एवं दूरगामी सिद्ध हुए। इन नीतियों के कारण पारंपरिक ग्रामीण व्यवस्था का विघटन हुआ, कृषकों पर करों का बोझ बढ़ा, ऋणग्रस्तता में वृद्धि हुई तथा जमींदारों, साहूकारों और मध्यस्थ वर्गों का उदय हुआ।

1793 में लॉर्ड कॉर्नवालिस द्वारा बंगाल में लागू की गई स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था ने जमींदारों को भूमि का स्वामित्व प्रदान कर दिया और कृषकों को उनकी भूमि से व्यावहारिक रूप से वंचित कर दिया। दूसरी ओर मद्रास एवं बंबई प्रेसीडेंसी में लागू रैयतवाड़ी व्यवस्था में सरकार का सीधा संबंध कृषकों से स्थापित किया गया, जबकि उत्तर-पश्चिमी प्रांतों तथा पंजाब में महालवाड़ी व्यवस्था के अंतर्गत गाँव अथवा महाल को राजस्व निर्धारण की इकाई बनाया गया। यद्यपि इन व्यवस्थाओं के स्वरूप में भिन्नता थी, तथापि उनका मूल उद्देश्य ब्रिटिश शासन के लिए अधिकतम राजस्व सुनिश्चित करना ही था।

ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों ने भारतीय कृषि के व्यवसायीकरण (Commercialization of Agriculture) को प्रोत्साहित किया। नकदी फसलों के उत्पादन पर बल दिया गया, जिससे कृषि का पारंपरिक स्वरूप प्रभावित हुआ। किसानों को बाजार की शक्तियों के अधीन होना पड़ा और वे प्राकृतिक आपदाओं तथा मूल्य उतार-चढ़ाव के प्रति अधिक संवेदनशील बन गए। परिणामस्वरूप ग्रामीण गरीबी, अकाल, ऋणग्रस्तता तथा भूमिहीनता जैसी समस्याएँ बढ़ीं। 19वीं और 20वीं शताब्दी में हुए अनेक किसान आंदोलनों—जैसे नील विद्रोह, दक्कन दंगे, चंपारण सत्याग्रह तथा बारदोली आंदोलन—का संबंध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों से था।

1947 में भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भी ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्था के प्रभाव समाप्त नहीं हुए। स्वतंत्र भारत की सरकार ने जमींदारी उन्मूलन, भूमि सुधार तथा कृषक हितों की रक्षा के लिए अनेक कदम उठाए, किंतु औपनिवेशिक काल में निर्मित भूमि संबंधों की संरचना लंबे समय तक भारतीय ग्रामीण समाज को प्रभावित करती रही। 1950 के दशक में भूमि सुधार कार्यक्रमों तथा जमींदारी उन्मूलन अधिनियमों के माध्यम से औपनिवेशिक विरासत को समाप्त करने का प्रयास किया गया। इसलिए 1757 से 1957 तक का कालखंड भारतीय भू-राजस्व व्यवस्था के विकास, परिवर्तन और उसके सामाजिक-आर्थिक प्रभावों को समझने की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है।

प्रस्तुत शोध का उद्देश्य 1757 से 1957 तक ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्थाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है। इस अध्ययन में विभिन्न राजस्व व्यवस्थाओं की उत्पत्ति, स्वरूप, उद्देश्य तथा उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रभावों का समग्र मूल्यांकन किया जाएगा। साथ ही यह भी विश्लेषित किया जाएगा कि इन नीतियों ने भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था, कृषक वर्ग, भूमि स्वामित्व संबंधों तथा स्वतंत्र भारत की भूमि सुधार नीतियों को किस प्रकार प्रभावित किया। यह अध्ययन न केवल औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों की प्रकृति को समझने में सहायक होगा, बल्कि आधुनिक भारत की कृषि एवं ग्रामीण संरचना के ऐतिहासिक आधार को भी स्पष्ट करेगा।

2. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और विकास (Historical Background and Development)

2.1 ब्रिटिश शासन से पूर्व भारतीय भू-राजस्व व्यवस्था

भारत में भूमि एवं कृषि सदैव राज्य की आय का प्रमुख स्रोत रहे हैं। प्राचीन काल में भू-राजस्व को सामान्यतः "भाग" कहा जाता था, जो कृषि उत्पादन का एक निश्चित अंश होता था। मौर्य काल में राज्य भूमि पर सर्वोच्च अधिकार रखता था तथा कृषकों से उपज का लगभग छठा भाग कर के रूप में लिया जाता था। गुप्त काल में भी भूमि कर राजस्व का प्रमुख साधन बना रहा।

मध्यकालीन भारत में विशेषकर मुगल शासन के दौरान भू-राजस्व व्यवस्था अधिक संगठित रूप में विकसित हुई। सम्राट अकबर (1556-1605) के शासनकाल में राजा टोडरमल द्वारा विकसित "जब्ती प्रणाली" (Zabti System) भारतीय भू-राजस्व इतिहास की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इस व्यवस्था में भूमि का मापन, वर्गीकरण तथा औसत उपज के आधार पर कर निर्धारण किया जाता था। इससे राजस्व प्रशासन में अपेक्षाकृत स्थिरता एवं पारदर्शिता आई।

2.2 प्लासी का युद्ध और कंपनी शासन की शुरुआत (1757-1765)

1757 के प्लासी युद्ध तथा 1764 के बक्सर युद्ध के बाद ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की राजनीतिक शक्ति में तीव्र वृद्धि हुई। 1765 में मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय ने कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी (राजस्व संग्रह का अधिकार) प्रदान कर दी। यह घटना भारतीय भू-राजस्व इतिहास में एक निर्णायक मोड़ थी क्योंकि अब कंपनी केवल व्यापारी संस्था न रहकर राजस्व-संग्रहकर्ता और शासक बन गई। कंपनी का मुख्य उद्देश्य प्रशासनिक सुधार नहीं बल्कि अधिकतम राजस्व प्राप्त करना था। परिणामस्वरूप परंपरागत भू-राजस्व प्रणाली में हस्तक्षेप प्रारम्भ हुआ।

2.3 प्रारंभिक राजस्व प्रयोग (1765-1793)

दीवानी अधिकार प्राप्त करने के बाद कंपनी के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती राजस्व वसूली की थी। प्रारंभ में कंपनी ने भारतीय अधिकारियों और मध्यस्थों के माध्यम से राजस्व संग्रह जारी रखा, किंतु अपेक्षित आय प्राप्त नहीं हुई। 1772 में वारेन हेस्टिंग्स ने पंचवर्षीय बंदोबस्त (Quinquennial Settlement) लागू किया। इसके अंतर्गत राजस्व वसूली का अधिकार अधिक बोली लगाने वाले ठेकेदारों को दिया गया। इस व्यवस्था से किसानों का व्यापक शोषण हुआ तथा कृषि उत्पादन प्रभावित हुआ। 1777 के बाद वार्षिक बंदोबस्त (Annual Settlement) लागू किया गया, किंतु इससे भी स्थायी समाधान नहीं निकला। इसी अनुभव के आधार पर कंपनी प्रशासन ने स्थायी बंदोबस्त की दिशा में कदम बढ़ाए।

2.4 स्थायी बंदोबस्त (Permanent Settlement), 1793

1793 में गवर्नर जनरल लॉर्ड कॉर्नवालिस ने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के कुछ भागों में स्थायी बंदोबस्त लागू किया। इस व्यवस्था के अंतर्गत जमींदारों को भूमि का स्वामी मान लिया गया तथा उन्हें सरकार को निश्चित वार्षिक राजस्व देने के लिए बाध्य किया गया। स्थायी बंदोबस्त (Permanent Settlement, 1793) की प्रमुख विशेषता यह थी कि भू-राजस्व की दर को स्थायी रूप से निश्चित कर दिया गया, जिससे जमींदारों को भूमि के उत्तराधिकार और हस्तांतरण का कानूनी अधिकार प्राप्त हो गया, किंतु किसानों को भूमि पर कोई स्वामित्व अधिकार नहीं दिया गया; इसके अतिरिक्त, यदि जमींदार निर्धारित राजस्व समय पर नहीं चुकाते तो उनकी भूमि नीलाम की जा सकती थी। इस व्यवस्था के दूरगामी प्रभाव यह हुए कि एक शक्तिशाली और परजीवी जमींदार वर्ग का उदय हुआ, जिसने किसानों का भारी शोषण किया और उन्हें बेदखल करके अपने

हितों को प्राथमिकता दी; साथ ही, चूँकि राजस्व की दर स्थायी थी और ज़मींदारों को कृषि सुधारों में निवेश के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिला, इसलिए कृषि उत्पादकता में कोई सुधार नहीं हुआ, जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक और सामाजिक असमानता में निरंतर वृद्धि हुई और किसान वर्ग एक दयनीय और असुरक्षित स्थिति में पहुँच गया।

2.5 रैयतवाड़ी व्यवस्था (Ryotwari System), 1820–1850

स्थायी बंदोबस्त की आलोचनाओं के बाद दक्षिण भारत में एक वैकल्पिक व्यवस्था विकसित की गई। मद्रास में सर थॉमस मुनरो तथा बंबई में एल्फिन्स्टन के प्रयासों से रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू की गई। इस प्रणाली में सरकार का सीधा संबंध किसान (रैयत) से स्थापित किया गया।

रयतवाड़ी प्रणाली (Ryotwari System) की प्रमुख विशेषता यह थी कि किसान को भूमि का सीधा धारक (प्रोप्राइटर) माना गया, जिससे भूमि पर उसका कानूनी स्वामित्व स्थापित हुआ; राजस्व का निर्धारण भूमि की गुणवत्ता और अनुमानित उपज के आधार पर किया गया, जो अधिक वैज्ञानिक दिखने वाला था, किंतु समय-समय पर इस दर का पुनर्निर्धारण होता रहा, जिससे किसान के लिए कर बोझ की अनिश्चितता बनी रही। इस व्यवस्था के प्रभावस्वरूप ज़मींदारों और मध्यस्थों की भूमिका न्यूनतम हो गई, जिससे सरकार और किसान के बीच सीधा संबंध स्थापित हुआ, परंतु भूमि की गुणवत्ता और उपज के आधार पर निर्धारित उच्च कर दरों के कारण किसान गंभीर रूप से ऋणग्रस्त हो गए; इसके अतिरिक्त, अकाल, सूखा या अन्य प्राकृतिक आपदाओं के समय भी सरकार द्वारा कर वसूली निर्बाध रूप से जारी रखी गई, जिससे किसानों की दयनीय स्थिति और भी बिगड़ गई और ग्रामीण अर्थव्यवस्था एक चिरस्थायी संकट में फँस गई।

2.6 महालवाड़ी व्यवस्था (Mahalwari System), 1822–1833

उत्तर-पश्चिमी प्रांतों, पंजाब तथा मध्य भारत के कुछ क्षेत्रों में होल्ट मैकेंजी (1822) तथा रॉबर्ट मार्टिन्स बर्ड (1833) द्वारा महालवाड़ी व्यवस्था विकसित की गई, जिसकी प्रमुख विशेषता यह थी कि गाँव को राजस्व की इकाई (महाल) बनाया गया और सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धांत लागू किया गया, जिसके अंतर्गत पूरे गाँव को एकत्रित रूप से निर्धारित राजस्व की जिम्मेदारी लेनी होती थी; साथ ही, समय-समय पर राजस्व दरों का पुनर्निर्धारण किया जाता रहा, जिससे कर बोझ की अनिश्चितता बनी रही। इस व्यवस्था के प्रभावस्वरूप ग्रामीण समुदाय पर सामूहिक कर भार का दबाव पड़ा, जिससे गाँव के भीतर आर्थिक असमानता और तनाव बढ़े; भूमि के स्वामित्व और कर वितरण को लेकर गाँव के भीतर भूमि विवादों में भारी वृद्धि हुई, और जब किसान या गाँव समूह राजस्व चुकाने में असमर्थ हुए, तो उन्हें साहूकारों और महाजनों के ऋणजाल में फँसना पड़ा, जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर इन मध्यस्थों का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया और किसान वर्ग दीर्घकालिक ऋणग्रस्तता और भूमि-हस्तांतरण के चक्र में फँस गया।

2.7 कृषि का वाणिज्यीकरण और ग्रामीण संकट (1858–1900)

1857 के विद्रोह के पश्चात् भारत का प्रशासन ईस्ट इंडिया कंपनी से सीधे ब्रिटिश क्राउन के अधीन आ गया, और इस अवधि में रेलवे, बंदरगाहों तथा संचार साधनों के व्यापक विकास ने कृषि उत्पादन को राष्ट्रीय और वैश्विक बाजारों से गहराई से जोड़ दिया; ब्रिटिश उद्योगों की कच्चे माल की आवश्यकताओं के अनुरूप कपास, जूट, नील, चाय एवं अफीम जैसी नकदी फसलों को प्रोत्साहन दिया गया, जिससे कृषि का तीव्र वाणिज्यीकरण हुआ, किंतु इस प्रक्रिया में खाद्यान्न उत्पादन अपेक्षाकृत प्रभावित हुआ और किसानों की खाद्य सुरक्षा एवं आत्मनिर्भरता कमजोर हो गई; इसी काल में 1860–61, 1876–78 (महान अकाल), 1896–97, और 1899–1900 के भयंकर अकालों ने लाखों जानें लीं, जिन्होंने ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों की कठोरता और असंवेदनशीलता को पूर्ण रूप से उजागर किया, क्योंकि कर वसूली और नकदी फसलों की माँग अकाल की भयावहता के बावजूद निर्बाध रूप से जारी रही।

2.8 किसान आंदोलनों का उदय (1859–1947)

ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों की कठोरता और शोषण के विरुद्ध देशभर में विभिन्न किसान आंदोलनों का उदय हुआ, जिनमें प्रमुख रूप से बंगाल में नील की ज़बरदस्ती खेती और यूरोपीय प्लांटों के अत्याचार के विरुद्ध नील विद्रोह (1859–60), बंगाल के पाबना ज़िले में ज़मींदारों द्वारा बेजा बढ़ोतरी और उत्पीड़न के विरुद्ध पाबना आंदोलन (1873–76), महाराष्ट्र के दक्कन क्षेत्र में साहूकारों की ऋण-शोषण प्रथा और कर्जपत्रों के विनाश के रूप में दक्कन दंगे (1875), बिहार के चंपारण में गाँधीजी के नेतृत्व में तीन-कठिया प्रथा के विरुद्ध चंपारण सत्याग्रह (1917), गुजरात के खेड़ा ज़िले में अकाल के बावजूद कर वसूली के विरुद्ध खेड़ा सत्याग्रह (1918), और गुजरात के बारदोली में 22 प्रतिशत राजस्व वृद्धि के विरुद्ध वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में महिलाओं के सक्रिय सहयोग से लड़ा गया बारदोली सत्याग्रह (1928) शामिल थे; इन आंदोलनों ने न केवल भूमि संबंधों और राजस्व नीतियों की गहरी विसंगतियों को उजागर किया, बल्कि ग्रामीण जनता की व्यथा को राष्ट्रीय चेतना से जोड़कर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक मज़बूत ग्रामीण आधार भी प्रदान किया, जिससे कृषक वर्ग की माँगें स्वतंत्रता संग्राम के केंद्रीय एजेंडे का अभिन्न अंग बन गईं।

2.9 स्वतंत्रता और भूमि सुधारों की शुरुआत (1947–1957)

1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् नई सरकार ने औपनिवेशिक भू-राजस्व व्यवस्था के शोषणकारी ढांचे में सुधार हेतु ठोस कदम उठाए, जिनमें ज़मींदारी उन्मूलन अधिनियम, भू-सुधार कार्यक्रम, बंटाईदारों के अधिकारों की सुरक्षा, और भूमि सीमा (Ceiling) संबंधी प्रारंभिक विचार प्रमुख थे; 1950 से 1957 के बीच अधिकांश राज्यों ने ज़मींदारी उन्मूलन कानून लागू किए, जिससे ब्रिटिश कालीन भूमि स्वामित्व संरचना को समाप्त करने और मध्यस्थों के शोषणकारी तंत्र को तोड़ने का प्रयास

किया गया, यद्यपि इन सुधारों की सफलता विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न रही—कहीं भूमि वास्तविक किसानों में वितरित हुई तो कहीं कानूनी खामियों और प्रशासनिक ढीलापन के कारण लाभ मुख्यतः बड़े किसानों तक ही सीमित रहा—फिर भी यह अवधि भारतीय कृषि व्यवस्था को औपनिवेशिक विरासत से मुक्त करने और एक न्यायसंगत भूमि वितरण व्यवस्था की स्थापना की दिशा में एक ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण चरण साबित हुई।

1757 से 1957 तक की अवधि भारतीय भू-राजस्व व्यवस्था के इतिहास में संक्रमण और परिवर्तन का युग रही। इस काल में ब्रिटिश शासन द्वारा लागू स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी तथा महालवाड़ी व्यवस्थाओं ने भारतीय कृषि एवं ग्रामीण समाज को गहराई से प्रभावित किया। यद्यपि इन व्यवस्थाओं का घोषित उद्देश्य प्रशासनिक दक्षता था, परंतु उनका वास्तविक लक्ष्य औपनिवेशिक राजस्व हितों की पूर्ति था। परिणामस्वरूप कृषक वर्ग का शोषण, ग्रामीण गरीबी, भूमिहीनता तथा सामाजिक असमानता में वृद्धि हुई। स्वतंत्रता के पश्चात भूमि सुधार कार्यक्रमों ने इन औपनिवेशिक संरचनाओं को समाप्त करने का प्रयास किया, जिससे आधुनिक भारतीय कृषि व्यवस्था की नींव पड़ी।

3. ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्थाओं का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन (स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी एवं महालवाड़ी व्यवस्था)

ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्था के अध्ययन में स्थायी बंदोबस्त (Permanent Settlement), रैयतवाड़ी (Ryotwari) तथा महालवाड़ी (Mahalwari) व्यवस्थाओं का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण है। ये तीनों व्यवस्थाएँ ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की राजस्व नीति की आधारशिला थीं। यद्यपि इनके स्वरूप, कार्यप्रणाली एवं प्रशासनिक ढाँचे में भिन्नता थी, तथापि इनका मूल उद्देश्य भारत से अधिकतम राजस्व प्राप्त करना था। इन व्यवस्थाओं ने भारतीय कृषि, ग्रामीण समाज, भूमि स्वामित्व संबंधों तथा आर्थिक संरचना पर गहरा प्रभाव डाला।

3.1 स्थायी बंदोबस्त व्यवस्था (Permanent Settlement), 1793

1793 में गवर्नर जनरल लॉर्ड कॉर्नवालिस द्वारा बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के कुछ क्षेत्रों में स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया। इस व्यवस्था के निर्माण में जॉन शोर (बाद में लॉर्ड टेगनमाउथ) की महत्वपूर्ण भूमिका थी। कंपनी प्रशासन का विश्वास था कि भूमि पर स्थायी स्वामित्व प्रदान करने से जमींदार कृषि सुधारों में निवेश करेंगे तथा राजस्व संग्रह अधिक सुनिश्चित होगा। स्थायी बंदोबस्त (Permanent Settlement, 1793) की प्रमुख विशेषताएँ यह थीं कि जमींदारों को भूमि का वैधानिक स्वामी माना गया और वे राज्य एवं कृषक के मध्य एक स्थायी मध्यस्थ के रूप में स्थापित हुए, जबकि सरकार द्वारा निर्धारित राजस्व को स्थायी रूप से निश्चित कर दिया गया; इस व्यवस्था में जमींदार समय पर राजस्व जमा न करने पर भूमि से वंचित हो सकते थे, किंतु कृषकों को भूमि पर कोई स्वामित्व अधिकार प्राप्त नहीं था, जिससे वे जमींदारों की मर्जी

पर पूर्णतः निर्भर हो गए। इसके सकारात्मक पक्ष में यह देखा गया कि सरकार को नियमित और स्थिर राजस्व की प्राप्ति हुई, एक स्थायी भू-स्वामी वर्ग का निर्माण हुआ जो प्रशासनिक स्थिरता का आधार बना, और राजस्व संग्रह के लिए एक मध्यस्थ वर्ग के उदय से प्रशासनिक व्यय में कमी आई; परंतु इसके नकारात्मक पक्ष ने अधिक गंभीर और दीर्घकालिक प्रभाव छोड़े—कृषकों का व्यापक शोषण हुआ क्योंकि उन्हें असुरक्षित किरायेदार (tenants-at-will) बना दिया गया, अनुपस्थित भू-स्वामित्व (absentee landlordism) का विकास हुआ जिसमें ज़मींदार शहरों में रहकर गाँवों से बिना निवेश किए अतिरिक्त मूल्य निकालते रहे, कृषि उत्पादन में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो सकी क्योंकि न तो ज़मींदारों और न ही किसानों को उन्नति हेतु कोई प्रोत्साहन मिला, और इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक और सामाजिक असमानता में निरंतर वृद्धि हुई जिसने भारतीय कृषि व्यवस्था को एक दीर्घकालिक पिछड़ापन की ओर धकेल दिया।

विद्वानों का दृष्टिकोण

आर.सी. दत्त के अनुसार स्थायी बंदोबस्त ने किसानों को ज़मींदारों की दया पर छोड़ दिया और ग्रामीण अर्थव्यवस्था को कमजोर किया। इतिहासकार बिपिन चंद्र का मत है कि यह व्यवस्था ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति वफादार ज़मींदार वर्ग तैयार करने का राजनीतिक साधन भी थी।

3.2 रयतवाड़ी व्यवस्था (Ryotwari System)

रयतवाड़ी व्यवस्था मुख्यतः मद्रास और बंबई प्रेसीडेंसी में लागू की गई। इसके प्रमुख प्रवर्तक कैप्टन अलेक्जेंडर रीड और सर थॉमस मुनरो थे। इसे 1820 के दशक में व्यवस्थित रूप दिया गया। स्थायी बंदोबस्त की विफलताओं के बाद ब्रिटिश प्रशासन ने भूमि राजस्व निर्धारण में प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया। रयतवाड़ी प्रणाली (Ryotwari System) की प्रमुख विशेषता यह थी कि सरकार का सीधा संबंध किसान (रयत) से स्थापित किया गया, जिसमें किसान को भूमि का धारक मानकर मध्यस्थों की भूमिका समाप्त कर दी गई, और भूमि की गुणवत्ता एवं संभावित उत्पादन के आधार पर कर निर्धारित किया गया, किंतु समय-समय पर कर का पुनर्निर्धारण होता रहा, जिससे किसान के लिए कर बोझ की अस्थिरता बनी रही। इसके सकारात्मक पक्ष में यह देखा गया कि मध्यस्थों के शोषण में कुछ कमी आई, किसानों को सीमित भू-अधिकार प्राप्त हुए, और प्रशासन को भूमि संबंधी प्रत्यक्ष जानकारी मिली; परंतु नकारात्मक पक्ष अधिक प्रभावशाली रहा—राजस्व दर अत्यधिक ऊँची होने के कारण किसान गंभीर रूप से ऋणग्रस्त हुए, प्राकृतिक आपदाओं और अकाल के समय भी कठोर कर वसूली जारी रहने से उनकी स्थिति और भी दयनीय हुई, और बार-बार होने वाले सर्वेक्षण एवं पुनर्मूल्यांकन से आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न होने के परिणामस्वरूप किसान ऋणग्रस्तता और भूमिहीनता की गहरी खाई की ओर बढ़ गए, जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था एक चिरस्थायी संकट में फँस गई।

विद्वानों का दृष्टिकोण

थॉमस मुनरो ने इसे कृषक हितैषी व्यवस्था बताया, किंतु बाद के आर्थिक इतिहासकारों ने स्पष्ट किया कि वास्तविकता में भारी राजस्व भार के कारण किसानों की स्थिति अत्यंत दयनीय बनी रही। धर्मा कुमार के अनुसार रैयतवाड़ी व्यवस्था ने किसान को स्वामित्व का आभास दिया, परन्तु आर्थिक स्वतंत्रता नहीं।

3.3 महालवाड़ी व्यवस्था (Mahalwari System)

1822 में होल्ट मैकेजी तथा 1833 में रॉबर्ट मार्टिन्स बर्ड द्वारा विकसित यह व्यवस्था उत्तर-पश्चिमी प्रांतों, पंजाब, अवध तथा मध्य भारत के कुछ क्षेत्रों में लागू की गई। ब्रिटिश अधिकारियों का मानना था कि उत्तर भारत की सामुदायिक भूमि व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए गाँव को राजस्व निर्धारण की इकाई बनाया जाना चाहिए। महालवाड़ी प्रणाली (Mahalwari System) की प्रमुख विशेषता यह थी कि "महाल" या गाँव को राजस्व की इकाई बनाया गया और पूरे गाँव को सामूहिक रूप से राजस्व भुगतान के लिए उत्तरदायी ठहराया गया, जिसमें ग्राम प्रमुखों एवं जमींदारों की सहायता से राजस्व वसूली की जाती थी, किंतु राजस्व दरों का समय-समय पर पुनर्निर्धारण होने से कर बोझ की अनिश्चितता बनी रही। इसके सकारात्मक पक्ष में यह देखा गया कि पारंपरिक ग्राम समुदाय को आंशिक मान्यता मिली, प्रशासन को स्थानीय स्तर पर सहयोग प्राप्त हुआ, और भूमि अभिलेखों के विकास में सहायता मिली; परन्तु नकारात्मक पक्ष अधिक व्यापक रहा—सामूहिक उत्तरदायित्व किसानों पर अतिरिक्त दबाव बन गया क्योंकि कर्ज में डूबे या विफल किसानों का बोझ समूचे गाँव पर पड़ता था, साहूकारों और महाजनों का प्रभाव ऋणजाल के माध्यम से अत्यधिक बढ़ गया, भूमि के स्वामित्व और कर वितरण को लेकर गाँव के भीतर भूमि विवादों में भारी वृद्धि हुई, और वास्तविक लाभ पारंपरिक ग्राम अभिजात वर्ग तथा प्रभावशाली जातीय समूहों को ही प्राप्त हुआ, जबकि सामान्य किसान ऋणग्रस्तता और भूमि-हस्तांतरण के दुष्चक्र में फँस गए।

विद्वानों का दृष्टिकोण

बी.एच. बैडेन-पॉवेल ने इसे भारतीय ग्रामीण परिस्थितियों के अधिक निकट बताया, जबकि ए.आर. देसाई ने इसे ग्रामीण शोषण का नया औपनिवेशिक रूप माना।

3.4 तुलनात्मक अध्ययन

आधार	स्थायी बंदोबस्त	रैयतवाड़ी	महालवाड़ी
प्रारम्भ	1793	1820 के दशक	1822-1833
प्रवर्तक	लॉर्ड कॉर्नवालिस	थॉमस मुनरो	होल्ट मैकेजी, बर्ड
क्षेत्र	बंगाल, बिहार, उड़ीसा	मद्रास, बंबई	उत्तर-पश्चिमी प्रांत, पंजाब

राजस्व इकाई	जमींदार	किसान (रैयत)	गाँव (महाल)
सरकार का संबंध	जमींदार से	सीधे किसान से	ग्राम समुदाय से
राजस्व निर्धारण	स्थायी	समय-समय पर संशोधित	समय-समय पर संशोधित
भूमि स्वामित्व	जमींदार	किसान	सामूहिक/ग्रामाधारित
मध्यस्थ की भूमिका	अत्यधिक	न्यूनतम	सीमित
कृषक स्थिति	अत्यंत शोषित	अपेक्षाकृत बेहतर किंतु बोझिल	सामूहिक उत्तरदायित्व से प्रभावित

विश्लेषणात्मक मूल्यांकन

ब्रिटिश प्रशासन ने इन तीनों व्यवस्थाओं को विभिन्न क्षेत्रों की परिस्थितियों के अनुरूप विकसित करने का दावा किया, किंतु वास्तविकता में इनका मूल उद्देश्य औपनिवेशिक राजस्व हितों की पूर्ति था। तीनों व्यवस्थाओं में राजस्व दरें सामान्यतः कृषि उत्पादकता और किसानों की भुगतान क्षमता की तुलना में अधिक थीं। स्थायी बंदोबस्त ने जमींदार वर्ग को सशक्त बनाया तथा कृषकों को अधिकारहीन कर दिया। रैयतवाड़ी व्यवस्था ने मध्यस्थों को हटाया, किंतु सरकार स्वयं सबसे बड़ा भू-स्वामी बन गई और किसानों पर प्रत्यक्ष दबाव बढ़ा। महालवाड़ी व्यवस्था ने सामुदायिक उत्तरदायित्व की अवधारणा को अपनाया, परन्तु इससे ग्रामीण समाज में आर्थिक विषमता और बढ़ गई।

इतिहासकार एरिक स्टोक्स (Eric Stokes) का मत है कि ब्रिटिश भूमि नीतियों ने भारत में एक नए ग्रामीण वर्ग ढाँचे (Rural Class Structure) का निर्माण किया, जिसने बाद में किसान आंदोलनों और राष्ट्रवादी राजनीति को प्रभावित किया। आर.सी. दत्त ने इन व्यवस्थाओं को भारतीय कृषि संकट का प्रमुख कारण बताया, जबकि इरफान हबीब के अनुसार इन नीतियों ने कृषि अधिशेष (Agrarian Surplus) को ग्रामीण विकास के बजाय औपनिवेशिक हितों की ओर मोड़ दिया। स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी और महालवाड़ी व्यवस्थाएँ ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की राजस्व नीतियों के तीन प्रमुख स्तंभ थीं। इनके प्रशासनिक ढाँचे में भिन्नता होने के बावजूद इनका अंतिम उद्देश्य राजस्व अधिकतमकरण था। इन व्यवस्थाओं ने भारतीय कृषि संरचना, भूमि स्वामित्व संबंधों, ग्रामीण वर्ग व्यवस्था तथा कृषक जीवन को गहराई से प्रभावित किया। परिणामस्वरूप ग्रामीण गरीबी, ऋणग्रस्तता, भूमिहीनता और किसान आंदोलनों का विकास हुआ। स्वतंत्र भारत के भूमि सुधार कार्यक्रमों को समझने के लिए इन व्यवस्थाओं का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।

4. ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों का भारतीय कृषि, ग्रामीण समाज एवं अर्थव्यवस्था पर प्रभाव

ब्रिटिश शासन द्वारा लागू स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी एवं महालवाड़ी व्यवस्थाएँ केवल राजस्व संग्रह की प्रशासनिक प्रणालियाँ नहीं थीं, बल्कि उन्होंने भारतीय कृषि संरचना, ग्रामीण समाज, भूमि स्वामित्व संबंधों तथा आर्थिक जीवन को गहराई से प्रभावित किया। इन व्यवस्थाओं का घोषित उद्देश्य प्रशासनिक दक्षता एवं राजस्व स्थिरता था, किंतु व्यवहार में इनका मुख्य लक्ष्य औपनिवेशिक राज्य के लिए अधिकतम आय सुनिश्चित करना था। परिणामस्वरूप भारतीय कृषि व्यवस्था में अनेक संरचनात्मक परिवर्तन हुए जिनके प्रभाव स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी लंबे समय तक दिखाई देते रहे।

4.1 कृषक वर्ग पर प्रभाव

ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों का सबसे अधिक प्रभाव कृषक वर्ग पर पड़ा। अधिकांश क्षेत्रों में भू-राजस्व की दरें अत्यधिक ऊँची थीं और उनका निर्धारण किसानों की वास्तविक आय अथवा भुगतान क्षमता के बजाय सरकार की राजस्व आवश्यकताओं के अनुसार किया जाता था। नकद कर भुगतान की अनिवार्यता ने किसानों को साहूकारों एवं महाजनों पर निर्भर बना दिया। परिणामस्वरूप ऋणग्रस्तता ग्रामीण जीवन की स्थायी समस्या बन गई। स्थायी बंदोबस्त के अंतर्गत किसानों को भूमि पर स्वामित्व अधिकार प्राप्त नहीं थे। जमींदारों द्वारा मनमाना लगान वसूला जाता था और किसानों को बेदखल किया जा सकता था। रैयतवाड़ी व्यवस्था में यद्यपि किसान का सरकार से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हुआ, फिर भी अत्यधिक राजस्व भार और बार-बार पुनर्मूल्यांकन के कारण उसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं हो सकी। महालवाड़ी व्यवस्था में सामूहिक उत्तरदायित्व ने पूरे गाँव को कर भुगतान के दबाव में ला दिया। इतिहासकार आर.सी. दत्त ने ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों को भारतीय किसानों की निर्धनता का प्रमुख कारण माना है। उनके अनुसार औपनिवेशिक कर व्यवस्था ने कृषि उत्पादन से प्राप्त अधिशेष को ग्रामीण विकास के बजाय राज्य की आय में परिवर्तित कर दिया।

4.2 भूमिहीनता एवं ग्रामीण वर्ग विभाजन

ब्रिटिश शासन से पूर्व अनेक क्षेत्रों में भूमि अधिकार सामुदायिक परंपराओं एवं स्थानीय रीति-रिवाजों द्वारा नियंत्रित होते थे। औपनिवेशिक नीतियों ने भूमि को एक क्रय-विक्रय योग्य संपत्ति (Commodity) में परिवर्तित कर दिया। इससे भूमि की खरीद-बिक्री, बंधक एवं नीलामी की प्रक्रिया बढ़ी। जो किसान राजस्व या ऋण का भुगतान नहीं कर सके, उनकी भूमि साहूकारों, व्यापारियों अथवा बड़े भू-स्वामियों के हाथों में चली गई। परिणामस्वरूप ग्रामीण समाज में नए वर्गों का उदय हुआ—

1. जमींदार एवं बड़े भू-स्वामी वर्ग

2. साहूकार एवं महाजन वर्ग
3. सीमांत कृषक वर्ग
4. भूमिहीन कृषि मजदूर वर्ग

इस प्रकार ब्रिटिश नीतियों ने ग्रामीण समाज में वर्गीय असमानताओं को बढ़ावा दिया।

4.3 कृषि का वाणिज्यीकरण (Commercialization of Agriculture)

ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय कृषि धीरे-धीरे आत्मनिर्भर उत्पादन प्रणाली से बाजारोन्मुख उत्पादन प्रणाली की ओर अग्रसर हुई। किसानों को राजस्व नकद में देना पड़ता था, इसलिए उन्हें ऐसी फसलें उगाने के लिए प्रेरित या बाध्य किया गया जिन्हें बाजार में बेचकर नकद आय प्राप्त हो सके। परिणामस्वरूप कपास, नील, जूट, चाय, अफीम और गन्ने जैसी नकदी फसलों का विस्तार हुआ। यद्यपि ब्रिटिश कालीन कृषि वाणिज्यीकरण से भारतीय कृषि का वैश्विक बाजार से संबंध स्थापित हुआ और नकदी फसलों की खेती को बढ़ावा मिला, किंतु इसके अनेक गंभीर दुष्परिणाम भी सामने आए— खाद्यान्न फसलों के क्षेत्र में निरंतर कमी हुई जिससे देश की आत्मनिर्भर खाद्य आपूर्ति प्रभावित हुई, अंतरराष्ट्रीय बाजार पर निर्भरता में वृद्धि हुई जो किसानों को वैश्विक माँग-पूर्ति की अनिश्चितताओं के अधीन कर देती थी, मूल्य उतार-चढ़ाव का सीधा और विनाशकारी प्रभाव किसानों पर पड़ा क्योंकि उनकी आय अंतरराष्ट्रीय बाजार की अस्थिरता से जुड़ गई थी, और इस प्रकार ग्रामीण खाद्य सुरक्षा कमजोर होकर किसान वर्ग न केवल आर्थिक शोषण के शिकार बने, बल्कि अकाल और संकट के समय में उनके पास अपनी जीविका चलाने के लिए पर्याप्त अनाज तक नहीं बचा, जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में जीवन-यापन की दयनीय स्थिति और असमानता में निरंतर वृद्धि हुई। इतिहासकार बिपन चंद्र के अनुसार कृषि का यह वाणिज्यीकरण औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुरूप था, न कि भारतीय किसानों के हितों के लिए।

4.4 अकाल एवं खाद्य संकट

ब्रिटिश काल में बार-बार पड़ने वाले अकालों ने भू-राजस्व नीतियों की सीमाओं को उजागर किया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अनेक भीषण अकाल पड़े, जिनमें लाखों लोगों की मृत्यु हुई। अकाल की परिस्थितियों में भी कई क्षेत्रों में राजस्व वसूली जारी रही। नकदी फसलों के विस्तार तथा खाद्यान्न उत्पादन की उपेक्षा ने समस्या को और गंभीर बना दिया। आर्थिक इतिहासकार आर.सी. दत्त ने अपनी कृतियों में तर्क दिया कि ब्रिटिश कर नीति एवं निर्यातोन्मुख कृषि व्यवस्था ने अकालों की तीव्रता बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

4.5. ग्रामीण ऋणग्रस्तता और साहूकारी व्यवस्था का विस्तार

नकद कर भुगतान, अनिश्चित कृषि उत्पादन और उच्च राजस्व दरों के कारण किसान लगातार ऋण लेने के लिए विवश हुए। ग्रामीण क्षेत्रों में साहूकारों का प्रभाव तेजी से बढ़ा। कई क्षेत्रों में महाजन ही वास्तविक आर्थिक शक्ति बन गए। ऋण न चुका पाने की स्थिति में किसान अपनी भूमि से हाथ धो बैठते थे। दक्कन दंगे (1875) जैसे किसान आंदोलनों का प्रमुख कारण साहूकारी शोषण और ऋणग्रस्तता थी। इससे स्पष्ट होता है कि भू-राजस्व नीति और ग्रामीण ऋण समस्या परस्पर जुड़ी हुई थीं।

4.6. किसान आंदोलनों और राष्ट्रीय चेतना का विकास

ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों ने ग्रामीण असंतोष को जन्म दिया जिसने विभिन्न किसान आंदोलनों का रूप लिया। नील विद्रोह (1859-60), पाबना आंदोलन (1873-76), दक्कन दंगे (1875), चंपारण सत्याग्रह (1917), खेड़ा आंदोलन (1918) तथा बारदोली सत्याग्रह (1928) जैसे आंदोलन कृषि शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया थे। इतिहासकार रणजीत गुहा और सुमित सरकार ने दर्शाया है कि किसान आंदोलनों ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को ग्रामीण आधार प्रदान किया और औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध व्यापक जनचेतना के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

4.7 स्वतंत्र भारत की भूमि सुधार नीतियों पर प्रभाव

ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्थाओं से उत्पन्न समस्याओं ने स्वतंत्र भारत की भूमि सुधार नीतियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। जमींदारी उन्मूलन, बंटाईदारों के अधिकार, भूमि सीमा कानून तथा भू-सुधार कार्यक्रमों का उद्देश्य औपनिवेशिक भूमि संरचना को समाप्त करना था। इस प्रकार स्वतंत्र भारत की कृषि नीति को समझने के लिए ब्रिटिश भू-राजस्व व्यवस्था का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि भूमि सुधारों का बड़ा भाग औपनिवेशिक विरासत की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ।

4.7 समग्र मूल्यांकन

ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों ने भारतीय कृषि को बाजार से जोड़ा, भूमि अभिलेख व्यवस्था विकसित की और प्रशासनिक नियंत्रण को मजबूत किया, किंतु इन सीमित उपलब्धियों की तुलना में इनके नकारात्मक प्रभाव कहीं अधिक व्यापक थे। इन नीतियों ने कृषक वर्ग को आर्थिक रूप से कमजोर किया, ग्रामीण असमानताओं को बढ़ाया, ऋणग्रस्तता को जन्म दिया, कृषि को असुरक्षित बनाया तथा ग्रामीण समाज में शोषण की नई संरचनाएँ निर्मित कीं। औपनिवेशिक शासन की वित्तीय आवश्यकताओं ने कृषि विकास और कृषक कल्याण को पीछे छोड़ दिया। यही कारण है कि अधिकांश आधुनिक इतिहासकार ब्रिटिश भू-राजस्व व्यवस्थाओं को भारतीय ग्रामीण संकट की प्रमुख ऐतिहासिक जड़ों में से एक मानते हैं।

5. निष्कर्ष (Conclusion)

ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्था (1757–1957) का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि औपनिवेशिक शासन की भूमि एवं राजस्व नीतियाँ मुख्यतः आर्थिक शोषण और साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति के उद्देश्य से निर्मित की गई थीं। 1757 के प्लासी युद्ध के पश्चात ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा प्राप्त राजनीतिक शक्ति ने भारत की पारंपरिक भू-राजस्व व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किए। इन परिवर्तनों का लक्ष्य भारतीय कृषि उत्पादन से अधिकतम राजस्व प्राप्त करना था, न कि कृषकों के कल्याण अथवा कृषि विकास को प्रोत्साहित करना। 1793 में लागू स्थायी बंदोबस्त ने एक शक्तिशाली जमींदार वर्ग को जन्म दिया, जिसने कृषकों और राज्य के मध्य मध्यस्थ की भूमिका निभाई। इस व्यवस्था ने भूमि स्वामित्व की प्रकृति को बदल दिया तथा किसानों को आर्थिक और सामाजिक रूप से निर्बल बना दिया। दूसरी ओर रैयतवाड़ी व्यवस्था ने सरकार और किसान के बीच प्रत्यक्ष संबंध स्थापित किया, किंतु अत्यधिक राजस्व निर्धारण तथा कठोर वसूली नीति के कारण किसानों की स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हो सका। महालवाड़ी व्यवस्था ने ग्राम समुदाय को राजस्व इकाई बनाया, फिर भी यह किसानों को शोषण और ऋणग्रस्तता से मुक्त नहीं कर सकी। इन तीनों व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन दर्शाता है कि यद्यपि इनके प्रशासनिक स्वरूप भिन्न थे, तथापि उनकी मूल भावना औपनिवेशिक राजस्व अधिकतमकरण की नीति से प्रेरित थी। परिणामस्वरूप भारतीय कृषि का वाणिज्यीकरण हुआ, नकदी फसलों का विस्तार हुआ, परंतु खाद्यान्न उत्पादन, ग्रामीण आत्मनिर्भरता और कृषक सुरक्षा प्रभावित हुई। कृषकों पर बढ़ते कर भार, साहूकारी व्यवस्था के विस्तार तथा भूमिहीनता की समस्या ने ग्रामीण समाज में व्यापक असंतोष उत्पन्न किया, जिसने आगे चलकर नील विद्रोह, दक्कन दंगे, चंपारण सत्याग्रह, खेड़ा आंदोलन तथा बारदोली सत्याग्रह जैसे किसान आंदोलनों को जन्म दिया। ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों का प्रभाव केवल आर्थिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसने भारतीय समाज की वर्गीय संरचना, ग्रामीण शक्ति-संतुलन तथा राजनीतिक चेतना को भी प्रभावित किया। जमींदार, साहूकार और व्यापारी वर्गों का उदय तथा कृषक वर्ग की बढ़ती निर्भरता औपनिवेशिक भूमि नीतियों के प्रत्यक्ष परिणाम थे। यही परिस्थितियाँ आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के ग्रामीण विस्तार का आधार बनीं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार ने जमींदारी उन्मूलन, भूमि सुधार तथा कृषक अधिकारों की सुरक्षा हेतु अनेक कदम उठाए। 1950 के दशक में लागू भूमि सुधार कार्यक्रम वस्तुतः ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्था की विसंगतियों को दूर करने का प्रयास थे। यद्यपि इन सुधारों की सफलता विभिन्न राज्यों में अलग-अलग रही, फिर भी उन्होंने भारतीय कृषि व्यवस्था को अधिक न्यायसंगत और लोकतांत्रिक बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अतः यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्था भारतीय इतिहास का केवल एक प्रशासनिक अध्याय नहीं है, बल्कि यह भारत की कृषि संरचना, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, सामाजिक संबंधों तथा राजनीतिक विकास को समझने की कुंजी है। इस व्यवस्था ने जहाँ एक ओर औपनिवेशिक शासन को आर्थिक रूप से सुदृढ़ किया, वहीं दूसरी ओर

भारतीय कृषक समाज को गहरे संकट में डाल दिया। इसलिए आधुनिक भारत की भूमि सुधार नीतियों तथा ग्रामीण विकास की चुनौतियों को समझने के लिए ब्रिटिश भू-राजस्व व्यवस्था का अध्ययन अत्यंत प्रासंगिक और महत्वपूर्ण है।

संदर्भ:

- Appu, P. S. (1996). Land reforms in India. Vikas Publishing House.
- Baden-Powell, B. H. (1892). The land systems of British India (Vol. 1). Clarendon Press.
- Chandra, B. (1971). Modern India. NCERT.
- Chandra, B., Mukherjee, M., Mukherjee, A., Mahajan, S., & Panikkar, K. N. (1989). India's struggle for independence, 1857–1947. Penguin Books.
- Cornwallis, C. (1793). Minutes on the permanent settlement [Official minute, East India Company administration].
- Davis, M. (2001). Late Victorian holocausts: El Niño famines and the making of the Third World. Verso.
- Desai, A. R. (1948). Social background of Indian nationalism. Oxford University Press.
- Dutt, R. C. (1902). The economic history of India under early British rule: From the rise of the British power in 1757 to the accession of Queen Victoria in 1837 (Vol. 1). Kegan Paul, Trench, Trübner & Co.
- Dutt, R. C. (1904). The economic history of India in the Victorian age: From the accession of Queen Victoria in 1837 to the commencement of the twentieth century (Vol. 2). Kegan Paul, Trench, Trübner & Co.
- Government of India, Planning Commission. (1951–56). First five year plan. Planning Commission of India.
- Guha, R. (1983). Elementary aspects of peasant insurgency in colonial India. Oxford University Press.

- Habib, I. (1963). *The agrarian system of Mughal India (1556–1707)*. Asia Publishing House.
- Kumar, D., & Desai, M. (Eds.). (1983). *The Cambridge economic history of India: Vol. 2. c. 1757–c. 1970*. Cambridge University Press.
- Marshall, P. J. (1987). *Bengal: The British bridgehead: Eastern India 1740–1828*. Cambridge University Press.
- Munro, T. (1824). *Minute on the Ryotwari settlement [Official minute, Madras Presidency]*.
- Raychaudhuri, T., & Habib, I. (Eds.). (1982). *The Cambridge economic history of India: Vol. 1. c. 1200–c. 1750*. Cambridge University Press.
- Sarkar, S. (1983). *Modern India, 1885–1947*. Macmillan.
- Stokes, E. (1959). *The English utilitarians and India*. Clarendon Press.
- Thorner, D. (1956). *The agrarian prospect in India: Five lectures on land reform delivered at the Delhi School of Economics*. University Press.